ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 68-70

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

साहित्य आलोचना से समाज की अपेक्षाएँ

डॉ0 ऊषा तिवारी

एसो0प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष – हिन्दी विभाग, एम0डी0पी0जी0कालेज, प्रतापगढ़ (उ0प्र0) भारत

Received- 18 .10. 2021, Revised- 23 .10. 2021, Accepted - 26.10.2021 E-mail: suryansh.tiwari19@gmail.com

सारांशः ***साहित्य का सृष्टा कलाकार प्रतिभा नामक काव्यहेतु से रचना को जन्म देता है, तो आलोचक उस साहित्य को कसौटी पर कसता है। हिन्दी के प्रखर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यञ्जनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहकर हिन्दी आलोचना को पाश्चात्य समीक्षा जगत् से जोड़ा तो कुछ परवर्ती आलोचकों ने पाश्चात्य समीक्षा पद्धति का अन्धानुकरण किया। स्वस्थ आलोचना के लिए भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक शोध का परिप्रेक्ष्य अनिवार्य आवश्यकता है।***

कुंजीभूत शब्द– कसौटी, अभिव्यञ्जनावाद, वक्रोक्तिवाद, विलायती उत्थान, हिन्दी आलोचना, अन्धानुकरण, सामाजिक।

साहित्य का पुनर्सृजन आलोचना वह विशिष्ट व्यावसायिक विधा है, जिसमें रसग्राही पाठक सहजानुभूति को अपनी विश्लेषण क्षमता से 'मध्यस्थ अभिकर्ता' के रूप में रचनाकार और पाठ के बीच उपस्थित होता है तथा रचना का प्रतिबिम्ब निर्मित करता है। यह प्रतिबिम्ब भले ही सूक्ष्म और धूमिल हो जाय, परन्तु आलोचक अपनी सम्पूर्ण सृजनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विजन) से क्रियाशील रहता है। आलोचना का अन्तः स्वरूप नामक लेख में डॉ0 नगेन्द्र स्वीकारते हैं कि "कलाकार की सर्जना–शक्ति आलोचक की सर्जना शक्ति से अधिक ठहरती है। जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुरझा जाय या विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पड़े, उसमें प्राण षक्ति कम ही माननी चाहिए। साहित्य को दिशा तो सृष्टा कलाकार ही देता है, आलोचक संघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा को शाण पर रखने का कार्य करता है। किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिम्बित करता है।"[1] वस्तुतः 'प्रतिभा' नामक काव्य हेतु रचना और आलोचना दोनों में संव्याप्त है, परन्तु पाठक की तुलना में आलोचक अधिक भावुक और संवेदनशील होता है, जिससे कृति का मूल्यांकन सम्भव होता है। रचना के तत्वों का सैद्धांतिक निरूपण और विश्लेषण कृति का एक नवीन पाठ तैयार करता है। गतानुगतिक अनुभवों को स्वयुगीन सन्दर्भो से जोड़ कृति की व्याख्या की जाती है। परम्परा और यथार्थ का यह सम्मिलन आलोचना को इतिहास से जोड़ देता है।

ऐतिहासिक क्रम में बदलता हुआ आलोचक का दायित्व और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है, वह शिवत्व और लोकहित की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक रचना का सामाजिक मूल्य है और इस सामाजिक मूल्य के अन्वेषण के लिए हमें रचनाकार के संकल्प और कल्प को समझना होगा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृढ़ मत है कि "हमें आलोचक होने के पहले आलोच्य ग्रन्थकार का विश्वासपरायण मित्र बनना चाहिए, तभी हम उसके वक्तव्य के उचित श्रोता हो सकेंगे, क्योंकि उस हालात में ही उसके व्यक्तिगत सुख–दुख के साथ गम्भीर सहानुभूति का भाव रख सकते हैं। सूरदास, तुलसीदास, रसखान और घनानन्द आदि कवियों के बारे में जो किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं, उनसे सिद्ध होता है कि जीवन की छोटी–छोटी घटनाएँ कभी–कभी पुरुषों को इस प्रकार का झटका देती हैं कि उनकी जीवन दशा ही बदल जाती है। कवि का जीवन उसकी कृतियों को समझने का प्रधान सहायक है।"[2]

समाजशास्त्रीय आलोचना के उपजीवी साहित्यकार द्वारा किया गया लेखन और उसका भौतिक मूल्य इतना प्रधान हो गया है कि नैतिक आदर्श, अध्यात्म दर्शन, रसात्मक संवेदन गौण हो गये हैं। भूमण्डलीकरण के सर्वग्रासी विस्तार में संस्कृति और साहित्य संदेह और चिन्ता के घेरे में आ गये हैं। प्रसिद्ध आलोचक डॉ0 मैनेजर पाण्डेय आलोचना की सामाजिकता नामक अपने लेख में लिखते हैं कि "आजकल दृश्यों की संस्कृति या कि साहित्य की स्थिति सन्देह और चिन्ता के घेरे में है। ऐसे में आलोचना और वह भी साहित्य की, शुद्ध साहित्यिकता की खोज करने वाली आलोचना की सामाजिकता अगर खतरे में है तो क्या आश्चर्य। आलोचना की घटती सामाजिकता का कारण केवल बाहरी नहीं हैं, केवल आज का सांस्कृतिक परिवेश नहीं है, आन्तरिक भी है, जिसका सम्बन्ध आलोचना दृष्टि से है।"[3] बाह्य और आन्तरिक दोनों ही खतरों के बीच आलोचना को स्वस्थ मार्ग की तलाश करनी होगी।

साहित्य की व्यवसायपरकता अथवा व्यवसाय बन जाना बाजारीकरण का वह दौर हैं, जहाँ साहित्य के अनेक उपनिवेश बन गये। फार्मूलाबद्ध लेखन ने न केवल भौतिक मूल्यों को ध्वस्त किया, वरन् नैतिक प्रश्न भी खड़े किये। समाज का उपकार करने निकला आलोचक नैतिक प्रश्नों से बच निकलने की सलाह देता है जबकि कोई भी रचना युगबोध की अवहेलना करके मूल्यवान नहीं बन सकती है।

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

राग–द्वेष आधारित आलोचना पाठकों के समक्ष विश्वसनीयता का संकट उपस्थित करती है। 'सूर–सूर, तुलसी शशी' से प्रारम्भ समालोचना अतिरंजना और सरलीकरण के जाल में उलझ कर अपनी निरर्थकता स्वयं साबित कर देती है। साहित्यिक किलेबन्दी में सुरक्षित कितने रचनाकार यश लाभ प्राप्त करते हैं, 'हिन्दी आलोचना' नामक अपनी पुस्तक में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं, "निर्मल वर्मा, ऊषा प्रियंवदा और धूमिल को जो यश मिला, उसके पीछे डॉ0 नामवर सिंह की आलोचना का हाथ है।"[4] आलोचक का व्यक्तित्व रचना का कद छोटा या बड़ा करे, वह सवाल भी नैतिकता के घेरे में आता है। आलोचना जगत् के शिखर पुरुष डॉ0 नामवर सिंह जी के विषय में 'नामवर विफलताएँ' नामक लेख में अशोक वाजपेयी लिखते हैं, "नामवर सिंह जी अपनी विचारधारा से विपथ होते हैं पर किसी वैचारिक उद्वेलन या किसी रचना या स्थिति या मूल्य संकट के कारण नहीं, उनका ऐसा विचलन या अतिक्रमण शमशेर बहादुर सिंह या गजानन माधव मुक्तिबोध के अतिक्रमण से कोसों दूर शुद्ध अवसरवादिता के कारण होता रहा है, उनके साहित्यिक आचरण में यह अवसरवादिता अन्तर्प्रवाह ही बन गई। उन्होंने कुछ वर्ष पहले अपने बारे में बात करते हुए यह कहा कि उन्हें लेखक प्रगतिशील संघ ने बनाया, अगर यह सच है तो भयानक है, क्योंकि हमारे जाने स्वयं संघ ने लेखक बनाने का दावा कभी नहीं किया, लेकिन शायद यह संघ का समर्थन किये जाने की एक अवसरवादी हरकत भर है, गंभीर सच्चाई नहीं"।[5]

अकादमिक आलोचना में नामवर सिंह जी के शिष्यों के सहयोग को वाजपेयी जी निम्नवत् उल्लिखित करते हैं, "नामवर सिंह जी के छात्र बड़ी संख्या में आसेतु हिमालय फैले हुए हैं और उनमें से अनेक की अकादमिक संस्थाओं में जगह नामवर सिंह जी ने ही सीधे उन्हें चुनकर या अपने प्रभाव का उपयोग कर दिलवायी हैं। ये शिष्य उनकी कीर्ति की ध्वाजाएँ फहराते रहते हैं और उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो इस सामाजिकी से अलग जाने की हिम्मत कर सकें, उनकी बुनियादी दृष्टि नामवर दीक्षित होने के कारण बिना समतुल्य प्रतिभा और अनुभव के इस सामाजिकी को बनाये रखने और पुष्ट करने को अपना अलिखित अघोषित धर्म मानती है और उससे साहित्य में जो दाखिल खारिज होता है, उसे कृतज्ञता ज्ञापित करने के तरीके के रूप जस का तस अपना लेती है।"[6]

आलोचना का यह परिदृश्य साहित्य की स्वायत्तता को समाप्त करता है, जिससे साहित्य का कोई कल्याण सम्भव नहीं है। भाषायी आतंक द्वारा रचना को क्लिष्ट बना दिया जाना स्वस्थ आलोचना परम्परा को अवरुद्ध करना है। लोक या जन के लिए विरचित साहित्य के उच्च वर्ग की भाषा अंग्रेजी के द्वारा आतंकित किया जाना आलोचक का धर्म नहीं है। आलोचना को अभिजन संस्कृत का हिस्सा बनने के लिए हिंदी आलोचना पर संस्कृत और अंग्रेजी भाषा का आधिपत्य होना हिंदी आलोचना के पाठक के लिए दुःखद है। 'आलोचना की सामाजिकता' नामक पुस्तक में मैनेजर पाण्डेय सुधीश पचौरी की आलोचना का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– "इंटरटेक्चूएलिटी के जमाने में सिर्फ भूखे ही दलित को कबीर में ढूंढ़ सकते हैं। जीनियोलोजिकल डिकांस्ट्रक्शन की यही खास बात है कि दलित कबीर की किताब में भले न हो, लेकिन जीनियोलॉजी के वर्तमानत्व और दलितवाद के युद्ध में कबीर एक प्राथमिक सांस्कृतिक टेक्स्ट हो सकते हैं।"[7]

यहाँ वे उक्तिवैचिश्यवाद से निर्मित होती संध्या भाषा पर अपनी चिन्ता जाहिर करते हैं। बौद्धिकता के अतिरेक में रचना की प्रकृति, स्वरूप को नष्ट कर सैद्धान्तिक स्थापना का प्रयास भी आलोचना के स्वरूप को विकृत करता है। वस्तुतः रचना का विकास समाज सापेक्ष है, सामाजिक अन्तर्वस्तु के विकास के साथ साहित्य की अन्तर्वस्तु रूपांतरित होती है, जिसका प्रभाव आलोचना पर पड़ता है। आलोचना को आत्ममुग्धता से उबार कर सभ्य, समीक्षा योग्य बनाना और युगानुरूप चेतना का निर्माण करना आलोचना का धर्म है। सांस्कृतिक जीवन्तता के साथ संस्कृति का संरक्षण भी आलोचना का कर्तव्य है। फ्रांसीसी समीक्षक टेन "काव्यालोचन' के लिए कवि की जातिगत मनोवृत्तियों, सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों, काल, दशा को दृष्टिपथ में रखने पर बल देते हैं"।[8]

हिन्दी आलोचना जगत् में मुख्यधारा से उपेक्षित, उत्पीड़ित दलित जन समुदायों के प्रति भी सार्थक हस्तक्षेपकारी भूमिका की आवश्यकता है। स्त्रियाँ, दलित, आदिवासी, अन्य जनजातियाँ अपने समग्र विकास के लिए चिन्तातुर और प्रयासरत हैं। आलोचना जगत् को उनके प्रयत्न और संघर्ष की पहचान कर उचित स्थान दिये जाने की आवश्यकता है। जन संस्कृति को उचित समादर दिये बिना कोई भी समाज प्रगतिशील नहीं हो सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जन संस्कृति के अध्ययन को आलोचना का अनिवार्य अंग मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि "साहित्य के इतिहास में इन सांस्कृतिक चिह्नों (गाँव में मिलने वाले) की कोई चर्चा न आना क्षोभ का ही विषय है, हमारी भाषा में इनकी स्मृति है, हमारे जीवन में इनका पदचिन्ह है, हमारी चिन्ताधारा में इनका कोई स्थान होगा ही नहीं, यह कैसे मान लूँ।"[9] मानवतावाद को साहित्य का मूल उत्स मानने वाले द्विवेदी जी लिखते हैं "इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में मनुष्यता है जो उसे पशुता से अलग कर देती है। वही आराध्य है। क्या साहित्य, क्या राजनीति, सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।"[10]

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-IV, Issues-22, YEAR- Oct.-Dec.-2021

आलोचना को भी इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही गतिशील होना चाहिए।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे रचनाकार हैं जो अपनी रचनाओं की समीक्षा स्वयं लिखते रहे। आत्मसमीक्षा के माध्यम से स्वयं को खारिज करते रहे। वर्तमान आलोचना पद्धति पर सवाल उठाते हुए ज्ञान–रंजन लिखते हैं, "कठिनाई यह है कि इधर कलह, तू–तू, लांछन, दंगा, दंगल और वकालत बहुत बढ़ गयी है। जो विश्वसनीय और मजबूत स्वर थे, वे इस मिर्च मसाले के शिकार हुए या अवसादग्रस्त हुए। मारकाट मची हुयी है, सहमे हुए बच्चे गर्दन घुमा–घुमाकर देख रहे हैं, चुप हैं, विचलित हैं या इण्टरनेट की शरण में हैं। कुछ हैं जो चौराहों पर रूके हुए हैं, भाँप रहे हैं कि क्या करें जबकि हिन्दी का विश्वास साम्राज्य बढ़ रहा है, प्रकाशकों का विश्व साम्राज्य बढ़ रहा है। अमीरी आ रही है, विभोर कर रही है, प्रतिरोध ठप है या खुदरा है।"[11] सभ्यता समीक्षा में यह साहित्यिक सन्नाटा, प्रतिरोध हीनता हिन्दी साहित्यनुशासन के लिए उचित नहीं है। तद्भव पत्रिका के सम्पादक अखिलेश प्रश्न उठाते हैं कि "हिन्दी साहित्य के तमाम पुरस्कारों, फेलोशिप, पदों, कमेटियों, विदेश यात्राओं, प्रशस्तियों, समीक्षाओं, शड्यन्त्रों, रणनीतियों और गप्पों, अफवाहों के कोलाहल, कोहराम में अनेक मुद्दे, सिद्धांत, विचार, संवदेन, वाद–विवाद, अभिव्यक्त होने के लिए पुकार रहे हैं।"[12] सुधीश पचौरी वाक् पत्रिका के सम्पादकीय में यही सवाल इस तरह उठाते हैं "हिन्दी क्षेत्रों के बौद्धिक अवसान में आलोचनात्मकता का अवसान क्या सोचने का विषय नहीं है।"[13] छायावादी कवियों, कहानीकारों के अतिरिक्त मुक्तिबोध ने भी समीक्षा के दायित्व का निर्वहन किया। आलोचना के क्षेत्र में व्याप्त उपनिवेशवाद की ओर ध्यान दिलाते हुए डॉ0 शम्भूनाथ गुप्त हिन्दी पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान और लेखक संगठन नामक निबन्ध में लिखते हैं, "यह हकीकत है कि हिन्दी आलोचना में व्याप्त उपनिवेशवाद ..... इसका कारण शायद यह होगा कि उदय प्रकाश अनेक लोगों की निगाह में हिन्दी आलोचना को पानी पी–पी कर कोसने वाले रचनाकार हैं। .... आलोचना की स्वदेशीयता का अर्थ अपने देश काल की विशिष्ट राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियों, परिस्थितियों के मद्देनजर रचना को देखना है।"[14] कथाकार उदय प्रकाश की शिकायत है कि "हिन्दी आलोचना के औपनिवेशीकरण पर कभी कोई रचनाकार और आलोचक प्रश्न नहीं उठाता ..... मैं तो कहना चाहूँगा कि स्वदेशीकरण की सबसे पहली जरुरत हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में है।"[15]

पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली की अन्धाधुन्ध नकल और कारपोरेट जगत् से नियन्त्रित होती साहित्यिकी में स्वदेशीकरण का खो जाना सहज, स्वाभाविक परिणाम है। प्रतिरोध विहीन मध्यवर्ग में लेखकीय औदात्य का जागरण और साहित्य प्रशिक्षण का खत्म हो जाना आलोचना को मूल्यविहीनता की ओर ले जाता है। एहसास–ए –कमतरी से निपटने के लिए हमें आलोचना के स्वदेशी निकष तैयार करने होंगे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ–संपादक रामेश्वर लाल खंडेलवाल, सुरेश चन्द्र गुप्त, पृ0सं0 12.
2. हिन्दी आलोचना–विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ0 216.
3. आलोचना की सामाजिकता, मैनेजर, पाण्डेय पृ0सं0 13.
4. हिन्दी आलोचना–विश्वनाथ, त्रिपाठी, पृ0 212.
5. कथादेश–अगस्त 2016, पृ0 10.
6. वही, पृ0सं0 9.
7. आलोचना की सामाजिकता–मैनेजर पाण्डेय, पृ0 16.
8. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ, सम्पादक–रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, सुरेश चन्द्र गुप्त, पृ0सं0 17.
9. अशोक के फूल–हजारी प्रसाद द्विवेदी–पृ0सं0–40.
10. साहित्य और इतिहास दृष्टि–मैनेजर पाण्डेय–पृ0सं0–140.
11. पहल 01 जनवरी, 2013 पृष्ठ 5.
12. तद्भव 26, अक्टूबर 2012 सम्पादकीय पृष्ठ।
13. वाक् अंक 3 वाणी प्रकाशन 2008 सम्पादकीय।
14. लमही जनवरी मार्च 2017 पृष्ठ 9.
15. वही।

*****